॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ
अंक बारहवाँ

चैत्र
२४७६

पाप और पुण्य दोनों की एक जाति

पाप की अपेक्षा पुण्य में मन्दकषाय है, परन्तु वह भी कषाय का ही प्रकार है। पुण्य भावों में भी धर्म नहीं है। जिस प्रकार पाप, अधर्म है; वैसे ही पुण्य भी अधर्म है।

[भेदविज्ञानसार]

एक अंक
चार आना

६०

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अनुक्रम

१- आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव और वस्तु में क्रमबद्धपर्याय
२- धर्म
३- धर्मी जीव किसे कहना?
४- पाप और पुण्य दोनों की एक जाति।

ग्राहकों से

इस अंक से आत्मधर्म का पांचवां वर्ष समाप्त होकर वैशाख मास से छठवाँ वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि अपना छठवें वर्ष का मूल्य तीन रुपया निम्न पते पर मनीआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेज दें। ताकि अगला अंक यथासमय प्राप्त हो सके।

पता-
अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (काठियावाड़)

अमृतवाणी

मुनिराज अत्यन्त निस्पृह करुणाबुद्धि से कहते हैं कि अरे प्राणियो! आत्मा का शुद्ध स्वभाव समझे बिना तुमने अनन्तकाल में दूसरे समस्त भाव किये हैं; वे कोई भी भाव उपादेय नहीं है। आत्मा का निश्चय स्वभाव ही उपादेय है– ऐसी श्रद्धा करो।

[-नियमसार-प्रवचन]

चैत्र
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-१२

सम्पादकीय

आत्मा का सर्वज्ञ-स्वभाव और वस्तु में क्रमबद्ध पर्याय

श्री प्रवचनसार के पहले ज्ञान अधिकार में आत्मा के ज्ञान और सुख स्वभाव का यथार्थ स्वरूप बतलाते हुए, केवलज्ञान और अतीन्द्रिय सुख का अलौकिक वर्णन किया है। वहाँ प्रत्येक आत्मा का सर्वज्ञ स्वरूप है और सर्वज्ञ के ज्ञान से बाहर (ज्ञात हुए बिना) कुछ भी नहीं हो सकता–यह बात स्पष्ट करके, सर्वज्ञ के ज्ञान में सर्वद्रव्य-गुण और उनकी अनादि-अनन्त पर्यायें एक समय में युगपत ज्ञात होती हैं–यह बात सिद्ध की है, और यह सिद्ध होने से, प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं–ऐसा वस्तुस्वरूप स्वयंमेव सिद्ध होता है। इससे सर्व पदार्थों में तीनकाल की क्रमबद्धपर्यायें जैसी हों, उनमें कुछ भी फेरफार या राग-द्वेष करने का जीव का स्वभाव नहीं है, परन्तु जैसी हों, उन्हें वैसा ही जान लेने का ज्ञायकस्वभाव है। ऐसे अपने ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मा की ओर रुचि और उन्मुखता द्वारा आत्मार्थी जीवों को द्रव्यदृष्टि प्रगट करके, परोन्मुखता वाली पर्यायबुद्धि छोड़ना चाहिए–जिससे शाश्वत सुख के उपायभूत अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

वर्तमान में मुख्यतया आत्मा का सर्वज्ञस्वरूप और प्रत्येक पदार्थ में क्रमबद्धपर्याय–इन दो विषयों पर खूब चर्चा हो रही है, और इस सम्बन्ध में अनेक स्थानों से अनेक प्रकार की शंकाएँ और विरोध हो रहे हैं। इससे उस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है।

१– वस्तु का यथार्थ स्वरूप।

२– अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं को उनके द्रव्य, अनन्तगुण तथा त्रैकालिक पर्यायों (जिनमें अपेक्षित धर्मों का समावेश हो जाता है) सहित एक समय में सम्पूर्णतया जाने–ऐसा प्रत्येक जीव का सर्वज्ञ-स्वभाव है।

३– स्वभाव की ओर का ज्ञान और पुरुषार्थसहित क्रमबद्धपर्याय की मान्यता।

४– जैनधर्म, और –

५– अनेकान्तवाद।

उपरोक्त पाँचों विषयों के ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस जीव को इन विषयों में से एक का भी यथार्थ ज्ञान हो, उसे दूसरे विषयों का सच्चा ज्ञान न हो–ऐसा हो ही नहीं सकता। यदि इन पाँचों में से किसी भी एक विषय का ज्ञान भूलयुक्त हो तो उसका पाँचों विषयों सम्बन्धी ज्ञान मिथ्या ही होता है।

अब उपरोक्त पाँचों विषयों का स्पष्टीकरण करके, यह विचारणा की जाती है कि उनका अविनाभावीपना किस प्रकार है।

(१) वस्तु का यथार्थ स्वरूप

इस जगत में जितनी वस्तुएँ हैं, उनके जीव और अजीव–ऐसे दो भेद होते हैं। यदि ऐसा माना जाये कि वस्तु को किसी भी प्रकार से पराश्रय है, तो उसका 'है' पना-अस्तित्व स्वाधीन नहीं रहता। वस्तु हो और पराश्रय चाहे (पर की सहायता की आवश्यक्ता हो), उसे वास्तव में वस्तु नहीं कहा जा सकता। किसी भी वस्तु को पराश्रय (पर की सहायता) है–ऐसा मानना, वह वस्तु को न मानने जैसा है।

जो अपने गुण-पर्यायों में वास करे, अथवा जिसमें अपने गुण-पर्यायों बसे, वह वस्तु है। जो वस्तु हो, वह गुण-पर्याय रहित नहीं होती। यदि वस्तु में अपने गुण-पर्याय का वास हो, तभी उसे वस्तु कहा जाता है और तभी वह अपना प्रयोजनभूत कार्य कर सकती है। किसी वस्तु को अथवा उसके गुण-पर्यायों को कभी पराश्रय हो ही नहीं सकता। इससे विरुद्ध वस्तुस्वरूप मानना, वह मिथ्यात्व है। कोई जीव अपने मिथ्याज्ञान से वस्तु को, उसके गुण और पर्यायों को यथार्थ स्वरूप से न जाने और उनमें से किसी को पराश्रय से (पर की सहायता से उत्पन्न होनेवाला) माने तो कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं बदल जाता। वस्तु का स्वरूप तो कभी भी अन्यथा नहीं होता,

परन्तु को जीव उसे यथार्थरूप से न मानकर अन्यरूप से माने तो उस जीव का ज्ञान, अज्ञानरूप परिणमित होता है। जीव को या अजीव को उसकी अवस्था में पराश्रय (पर की सहायता) है– ऐसा अज्ञानपने में ही जीव मानता है।

'प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है और वह अनादि-अनन्त है, इससे वह तो स्वाश्रय ही है, परन्तु पर्याय तो क्षणिक नवीन कार्य है, इसलिए उसमें पर का आश्रय (पर की सहायता) चाहिए'–ऐसा कितने ही व्यक्ति मानते हैं, वह मान्यता मिथ्या है; उसका स्पष्टीकरण निम्नोक्त है:–

(१) अनादि-अनन्त पर्याय का पिण्ड है, वह द्रव्य है। और -

(२) प्रत्येक गुण की अनादि-अनन्त पर्यायों का पिण्ड है, वह गुण है।

(जैनसिद्धान्त दर्पण, पृष्ठ ३९-५६)

उपरोक्तानुसार द्रव्य और गुण की व्याख्या होने से, द्रव्य-गुण को स्वतन्त्र स्वाश्रित स्वीकार करने से अनादि-अनन्त पर्यायों की भी स्वतन्त्रता और स्वाश्रय सिद्ध हो जाता है। जीव अनादि से पर का आश्रय (पर की सहायता) मानकर परलक्ष्य से विकारी पर्याय करता है–यह ठीक है, परन्तु उससे पर उसे कुछ आश्रय देता है–ऐसा नहीं बनता; क्योंकि यदि उसे आश्रय देने की शक्ति पर में हो तो जीव को पराश्रय होने की मान्यता को मिथ्या नहीं कहा जा सकेगा। जीव पर्याय में अनादि से अज्ञानी है और इसी से वह पराश्रय मानता है। पर उसे आश्रय नहीं देते और जीव पराश्रय होने की मान्यता नहीं छोड़ता– इसी से उसे मिथ्यात्व और दुःख होता है।

जीव पराश्रय मानता होने से वह कहीं न कहीं पराश्रय ढूँढ़ता रहता है, परन्तु पर तो उसे आश्रय नहीं देता। ऐसा होने से पराश्रय ढूँढ़नेवाला व्यक्ति व्यग्र हुए बिना नहीं रहता। श्री प्रवचनसार में इस सम्बन्ध में कहते हैं कि –

'..... निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ) परतन्त्र होते हैं।'

(गाथा १६, टीका)

और उसमें स्पष्टरूप से कहा है कि अनादि की अज्ञानदशा में भी जीव स्वतन्त्ररूप से विकार करता था और ज्ञानदशा में भी जीव स्वतन्त्ररूप से अविकारी दशा करता है।

(श्री प्रवचन. गाथा १२२-१२३ टीका)

श्री समयसार गाथा १०२ की टीका में श्री जयसेनाचार्य इस विषय में कहते हैं कि :– चिदानन्द एक स्वभाव द्वारा आत्मा का एकत्व होने पर भी, उसके दो भेद करके जिन शुभ या

अशुभभावों को आत्मा करता है, उन भावों का आत्मा स्वतन्त्ररूप से कर्ता और भोक्ता होता है।

(देखो, हिन्दी समयसार पृ. १६७)

जीव और अजीव दोनों द्रव्य स्वयं अपनी विकारी और अविकारी अवस्था में अपने छहों कारकों रूप से परिणमित होते हैं, और पर कारकों की अपेक्षा के बिना वे अपनी अवस्थाएँ करते हैं। (देखो, पंचास्तिकाय गाथा ६२, पृ. ११४ संस्कृत टीका)

इस समस्त कथन का सार यह है कि एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय कुछ भी नहीं कर सकती; उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती, आगे-पीछे (अक्रम-रूप) नहीं कर सकती। ऐसा वस्तु-स्वरूप होने पर भी, मोहभाव के कारण जीव के अनादि से पर की कर्ताबुद्धि प्रवर्त रही है। कोई जीव शास्त्र का अभ्यास करने के पश्चात् कदाचित् सीधा ऐसा न कहता हो कि – एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करता है; परन्तु अन्तर में पड़ी हुई पर की कर्तृत्वबुद्धि के कारण वह ऐसा मानता है कि – 'भले हम पर की पर्याय को नहीं कर सकते, परन्तु उसके निमित्त तो हो सकते, इसलिए पर का निमित्त बनना चाहिए।' इस प्रकार शास्त्राभ्यास के बहाने भी अनादि से चली आ रही कर्तृत्वबुद्धि को ही दृढ़ करते हैं। 'पर के हम निमित्त बने'– ऐसे उनके कथन के आशय पर विचार किया जाये तो वह यही है कि आप निमित्त होने के कारण पर की पर्याय में कुछ फेरफार हो सकेगा। ऐसा उनका आशय होने पर वह परद्रव्य की प्रत्येक समय की स्वतन्त्र पर्याय को नहीं मानते। यदि उनके निमित्त से परद्रव्य में कुछ फेरफार होता हो, तो यह निमित्त स्वयं निमित्तरूप से नहीं रहता; परन्तु परद्रव्य का कर्ता होकर स्वयं उसका उपादान हो जाता है–ऐसा होने से उपादान और निमित्त इन दोनों के यथार्थ स्वरूप का लोप हो जाता है–ऐसा अज्ञानियों के ध्यान में नहीं आता। इसी से वे 'निमित्त' की ओट में अपनी विपरीत मान्यता की पुष्टि करते हैं। ''प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र हैं, वे पर की किंचित् अपेक्षा नहीं रखते,–वैसा ही स्वतन्त्र यथार्थ स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप सिद्ध होने से शेष चार विषय भी उसमें अविनाभाव रूप से आ जाते है''–उन्हें अब कहा जाता है।

(२) जीव की सर्वज्ञता

वस्तु है–ऐसा निश्चित होने से वह ज्ञेय है–यह भी निश्चित होता है। वस्तु हो और वह ज्ञेय –(प्रमेय) न हो–ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु 'प्रमेयत्व' नाम का गुण है इससे द्रव्य-गुण-पर्याय सभी ज्ञेय हैं। जो ज्ञेय हो, उसे जाननेवाला ज्ञान भी अवश्य होता ही है। यदि ज्ञान, ज्ञेय को न जाने तो ज्ञान का ज्ञानत्व ही क्या रहा? और यदि ज्ञेय, ज्ञान में में ज्ञात न हो तो ज्ञेय का

ज्ञेयत्व ही क्या रहा? जीव की सर्वज्ञता के बिना ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

ज्ञान अपनी पर्याय के द्वारा जानने का कार्य करता है। यदि ज्ञान की पर्याय सर्व ज्ञेयों को जाने, तभी आत्मा का ज्ञानस्वभाव सिद्ध हो। और सर्व ज्ञेयों को जानने में ज्ञान को यदि एक से अधिक समय लगे तो उसकी अवस्था पूर्ण नहीं कहलायेगी। इससे सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों, (और अपेक्षित धर्मों सहित) सर्व ज्ञेयों को एक समय में सम्पूर्णतया जाने, वही ज्ञान की पूर्ण अवस्था है।

आत्मा का ज्ञायक स्वरूप है अर्थात् ज्ञाता स्वभाव है। ज्ञाता स्वभाव में 'न जानना' किंचित् भी नहीं आ सकता। समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी भूत-वर्तमान-भविष्य की समस्त पर्यायें ज्ञेय हैं। यद्यपि भूत-भविष्य को पर्यायें वर्तमान में प्रगट नहीं वर्त रही हैं, परन्तु अनादि-अनन्त पर्यायों का पिण्ड ही द्रव्य होने से, द्रव्य में ही वे पर्यायें आ जाती हैं। द्रव्यार्थिकनय से भूत-भविष्य की पर्यायें द्रव्य में त्रिकाल अस्तित्व रखती हैं, इससे ऐसा नहीं हो सकता कि सम्पूर्ण विकसित हुआ ज्ञान उन्हें न जाने। श्री प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने और अमृतचन्द्राचार्य देव ने यह विषय अत्यन्त स्पष्ट रीति से समझाया है। देखो, गाथा १५, १६, २१, २२, २६, २८, २९, ३१, ३२, ३५, ३७, ३८, ३९, ४७, ४८, ४९, ५१, ५४, ५९ और ६१

समस्त ज्ञेय जैसे हों, उन्हें वैसा ही और पूर्णरूप से जाने, तभी ज्ञान यथार्थ और सम्पूर्ण कहलाता है। ज्ञेय अनादि से हैं, इससे उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी अनादि से है, अर्थात् 'सर्वज्ञ अनादि से हैं।' और ज्ञेय अनन्तकाल तक रहेंगे, इससे उन्हें जाननेवाले सर्वज्ञ भी अनन्तकाल होना ही हैं। इस प्रकार आत्मा में सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य हैं; तो उस सामर्थ्य हो जानकर पूर्ण ज्ञान के साधक भी इस जगत में अनादि-अनन्त होते हैं; और उनका विरोध करनेवाले अज्ञानी भी जगत में अनदि-अनन्त हैं। इस प्रकार इस जगत में आत्मा की सर्वज्ञता का विरोध करनेवाले अज्ञानी, सर्वज्ञता के साधक ज्ञानी, और उसे प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञ –तीनों प्रकार के जीव (बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा) सदैव होते ही है।

शास्त्रों का अभ्यास करने पर भी अनेक लोगों को सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं होती और अपनी विपरीत मान्यता से कहते हैं किः–

(१) इस जगत में कोई जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

(२) सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्यायों को वर्तमान में नहीं जान सकते, परन्तु जब वे पर्यायें, होती हैं, तब उन्हें जानते हैं।

(३) सर्वज्ञदेव, पर को जानते हैं–यह कथन व्यवहारनय से है और व्यवहारनय तो अभूतार्थ है, इसलिए सर्वज्ञदेव पर को जानते ही नहीं।

(४) सर्वज्ञदेव वस्तु के अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते।

उपर्युक्त चारों प्रकार की मान्यताएँ मिथ्या हैं, उनकी स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है :–

(१) इस जगत में कोई जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता – ऐसा माननेवाला जीव आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति का अस्वीकार करता है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव समयसार में कहते हैं किः–

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो, ण विजाणदि सव्वदो सव्वं॥१६०॥

ते सर्वज्ञानी-दर्शी पण, निजकर्मरज आच्छादने,।
संसारप्राप्त न जाणतो, ते सर्व रीतिे सर्वने॥१६०॥

इस गाथा की टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि –''जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभावाला है'– ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्म,.....सर्व प्रकार से सर्वज्ञेयों को जाननेवाला अपने को न जानता हुआ... अज्ञानभावरूप परिणमित होता है।''

और आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति की व्याख्या करते हुए श्री समयसार के परिशिष्ट में अमृतचन्द्रसूरि कते हैं कि :–

'समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप परिणमित–ऐसी आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति'– यह शक्ति सभी आत्माओं में है। इससे जो सर्वज्ञ को नहीं मानते, वे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं मानते अर्थात् वास्तव में आत्मा को ही नहीं मानते।

(२) सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्यायों को भी वर्तमान पर्यायों की भाँति ही प्रत्यक्ष, वर्तमान में जानते हैं। इस सम्बन्ध में प्रवचनसार के ज्ञान अधिकार की गाथाएँ पहले बतलायी हैं, उनके उपरान्त प्रवचनसार की २००वीं गाथा में कहते हैं किः–

अब ''एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमानुसार प्रवर्तमान होने से, अनन्त भूत-वर्तमान-भविष्य के विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाध-स्वभाव और गम्भीर– ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को-मानों से द्रव्य ज्ञायक में अंकित हो गये हों, चित्रित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों –इस प्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्ध-आत्मा) प्रत्यक्ष

करता है....'' इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ-देव एक समय में तीनोंकाल की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष जानते हैं।

(३) 'सर्वज्ञदेव पर को जानते हैं–यह कथन व्यवहारनय से है और व्यवहारनय का अभूतार्थ है, इसलिए सर्वज्ञदेव पर को जानते ही नहीं'–यह मान्यता भी मिथ्या है। व्यवहार अनेक प्रकार क है। 'पर को जानना'–उसे यहाँ व्यवहार कहा है, परन्तु 'पर को जानने की ज्ञानशक्ति' वह कहीं व्यवहार से नहीं है। पर को जानने का सर्वज्ञ का ज्ञान तो सच्चा ही है, परन्तु पर के साथ तन्मय होकर वह ज्ञान, पर को नहीं जानता, इससे उसे व्यवहार कहा है और स्व को तन्मयरूप से जानता है, इसलिए स्व को जानना, उसे निश्चय कहा है।

इस सम्बन्ध में श्री समयसारजी गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में श्री जयसेनाचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि– यदि केवली तन्मयरूप से पर को जानें तो पर के सुख-दुःख संवेदनकाल में पर के सुख-दुःख को प्राप्त करें, परन्तु ऐसा नहीं होता, इतना बताने के लिए 'व्यवहारनय से पर को जानते हैं'– ऐसा कहा है। वहाँ आचार्यदेव कहते हैं किः–

'यद्यपि स्वकीय सुख संवेदनापेक्षया निश्चयः परकीय सुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनोक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।'

अर्थ :– यद्यपि स्वकीय सुख संवेदन की अपेक्षा से निश्चय और परकीय सुख संवेदन की अपेक्षा से व्यवहार है, तथापि छद्मस्थजनों की अपेक्षा से वह भी निश्चय ही है।

पर के ज्ञान बिना स्व का ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। यदि स्व को जाने और पर को न जाने तो वह ज्ञान स्व को नहीं जान सकता। उसी प्रकार पर को जाने और स्व को न जाने तो वह ज्ञान पर को ही नहीं जान सकता। श्री प्रवचनसार गाथा ४८-४९ में कहा है कि– सर्व को न जाननेवाला एक को भी नहीं जानता, और एक को न जाननेवाला सर्व को भी नहीं जानता, इसलिए जो आत्मा को 'आत्मज्ञ' मानते हैं किन्तु परज्ञ (सर्वज्ञ) नहीं मानते, वे आत्मा की स्व–पर प्रकाशक शक्ति को ही स्वीकार नहीं करते। इससे केवली भगवान का आत्मा स्व को ही जानता है, पर को नहीं जानता–ऐसा मानने से महान दोष आता है। इस सम्बन्ध में पं. दीपचन्दजी शाह ने चिद्विलास (पृ० १४ तथा १७) में अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। वहाँ कहा है कि – ''उपयोग ज्ञान में स्व–पर प्रकाशक शक्ति है, वह अपने स्वरूप प्रकाशन में निश्चल व्याप्य-व्यापक द्वारा लीन हुआ अखण्ड प्रकाश है; पर का प्रकाशन तो है, परन्तु व्यापकरूप एकता नहीं है, इससे उपचार संज्ञा हुई। वस्तुरूप शक्ति उपचार नहीं है।''

.....''यदि ज्ञान केवल स्वसंवेद (मात्र अपना ज्ञाता) ही है, वह स्व–पर प्रकाशक नहीं है–तो महान दोष हो। स्वपद की स्थापना पर के स्थापन से है; यदि पर की स्थापना की अपेक्षा दूर कर दी जाये तो स्व का स्थापन भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए स्व-पर प्रकाशक शक्ति मानने से सर्वसिद्धि है,–इसमें कोई सन्देह नहीं है।''

(४) अपेक्षित धर्मों को भी केवली भगवान जानते हैं। अपेक्षित धर्म को धारण करनेवाला या तो द्रव्य होता है, या गुण होता है, अथवा पर्याय होती है। केवली भगवान द्रव्य-गुण-पर्याय को तो जानते हैं और उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते–ऐसा माननेवाला केवली भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय का सम्पूर्ण ज्ञान होना नहीं मानता।

श्री गणधरों ने केवली भगवान की दिव्यध्वनि में से अपेक्षित धर्मों का ज्ञान प्राप्त किया। यदि केवली भगवान को अपेक्षित धर्मों का ज्ञान न हो तो उनकी वाणी में उन अपेक्षित धर्मों का उपदेश कहाँ से आये? और गणधर कहाँ से झेलें? इसलिए केवली भगवान को अपेक्षित धर्मों का ज्ञान न मानना, वह प्रगट रीति से ही मिथ्या है। यदि केवली भगवान अपेक्षित धर्मों को न जानते हों तो वे अल्पज्ञ सिद्ध हों। गणधरों और श्रुतकेवलियों का ज्ञान, केवली भगवान के ज्ञान का अनन्तवाँ भाग है, तथापि वे गणधरादि छद्मस्थ जीव तो अपेक्षित धर्मों को जानें और उनके परम गुरु श्री केवली भगवान अपेक्षित धर्मों को न जानें–यह मान्यता बिलकुल मिथ्या है।

भगवान की वाणी अनन्त नयात्मक होती है। (देखो समयसार नाटक पृ० ३३) अनन्त नय अपेक्षित धर्मों का प्रतिपादन करते हैं। नय-उपनयों के विषयरूप पर्यायों का समूह, वह द्रव्य है। (आप्तमीमांसा गाथा १०७) इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान में अपेक्षित धर्मों का ज्ञान आ जाता है। केवलज्ञान अनन्त धर्मों को जानता है, और उसमें अपेक्षित धर्म भी आ जाते हैं। इस सम्बन्ध में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने समयसार के दूसरे कलश में स्पष्टता की है। (देखो समयसार कलश २ का भावार्थ) आज कितने ही उपदेशक भी कहते हैं कि – आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है या नहीं – उसका निर्णय करने की चर्चा या झंझट में नहीं पड़ना चाहिए, अपने को तो राग-द्वेष दूर करने का काम है न? लेकिन यह मान्यता महान अज्ञान है। सर्वज्ञ के निर्णय बिना मिथ्यात्व या राग-द्वेष दूर होते ही नहीं। सर्वज्ञदेव का निर्णय मोह-क्षय का उपाय है – ऐसा बतलाते हुए भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहते हैं कि–

जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्सलयं।।

जो अरहन्त भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। यदि सर्वज्ञता निश्चित न हो तो आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव ही निश्चित न हो। यदि जीव आत्मा का परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही निश्चित न करे तो उसे आत्मा की सच्ची श्रद्धा भी कैसे होगी? और उसके बिना मिथ्यात्व भी दूर नहीं होगा, तथा मिथ्यात्व दूर हुए बिना राग-द्वेष दूर नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक जिज्ञासु जीव को प्रथम ही आत्मा की सम्पूर्ण सर्वज्ञत्वशक्ति का यथार्थ निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय करने से, जगत के अधिकांश विद्वान और त्यागी भी 'सर्वज्ञ' का स्वरूप समझने में जो भ्रान्ति कर रहे हैं, उसका अयथार्थपना ज्ञात हुए बिना नहीं होगा।

और कोई ऐसा कहे कि–'कीड़े-मकोड़े आदि को जानने से भगवान को क्या प्रयोजन है? इसलिए भगवान उन्हें नहीं जानते'–यह भी स्थूल अज्ञान ही है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह जहाँ पूर्ण प्रगट होकर सर्वज्ञदशा हो गई, वहाँ उस ज्ञान में क्या ज्ञात नहीं होगा? सभी ज्ञात होता है। यदि सम्पूर्ण ज्ञेयों को न जाने तो पूर्ण ज्ञान ही सिद्ध नहीं होता। जगत के समस्त पदार्थों का प्रमेय स्वभाव है, इससे पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाने से समस्त पर्याय स्वयंमेव उस ज्ञान में ज्ञात होते हैं; इससे 'इन ज्ञेयों को जानना प्रयोजनभूत है, और यह अप्रयोजनभूत है'–ऐसा उनके है ही नहीं। आत्मा का ज्ञान-स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया, वहाँ उसमें कीड़े-मकोड़े आदि स्वयंमेव ज्ञात होते हैं। जगत के ज्ञेय पदार्थ हों, वे पूर्ण ज्ञान में ज्ञात न हों–यह कैसे हो सकता है?

कोई लिखता है कि:–'महावीर की सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं–यह इस समय की चर्चा का विषय नहीं है; पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे'–यह कथन भगवान महावीर की सर्वज्ञता को कुटिल पद्धति से उड़ानेवाला है। सर्वज्ञदेव को सबकुछ जैसा है, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात हो गया है, इससे उनके कोई विशिष्ट तत्त्व-विचार नहीं होता। 'विचारक' तो अल्पज्ञ होता है। जिसको अब तक कुछ जानना शेष रहा हो, वही विचारक होता है। विचार तो श्रुतज्ञान का प्रकार है; भगवान को विशिष्ट तत्त्वविचारक कहना, वह तो भगवान की सर्वज्ञता का अस्वीकार करके उन्हें अल्पज्ञ मानने के बराबर है। यह मान्यता बिलकुल मिथ्यात्व है। भगवान को सर्वज्ञ हैं, उन्हें कुछ नवीन जानना या निर्णय करना नहीं रहा है। इससे उन्हें विचार करना रहा ही नहीं।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और विश्व के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, इस प्रकार वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि वह पूर्ण ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञात होता है। सर्व पदार्थ ज्ञेय हैं, उन्हें जाननेवाला पूर्ण ज्ञान भी अवश्य होता ही है। वह आत्मा का ही सर्वज्ञस्वरूप अथवा ज्ञायक-स्वरूप है।

इस प्रकार (१) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को और (२) सर्वज्ञता को अविनाभावीपना है– अर्थात् जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, वह आत्मा की सर्वज्ञता को भी अवश्य जानता है। जो सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह वस्तु-स्वरूप को भी नहीं मानता।

(३) स्वभाव की ओर के ज्ञान और पुरुषार्थ सहित क्रमबद्धपर्याय की मान्यता।

प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि 'जो जीव अरहन्त भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।' अरहन्त भगवान एक समय में जगत के समस्त पदार्थों का स्वरूप सम्पूर्णतया जानते हैं; उनका ज्ञान सत्य और सम्पूर्ण होने से सर्व वस्तुओं के स्वरूप को यथावत् जानता है। तीनकाल में जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, उसी प्रकार उसे निश्चितरूप से जानते हैं; क्योंकि ज्ञेय जैसे हों, उन्हें वैसा ही परिपूर्ण जान लेना ज्ञान का स्वभाव है। जैसा ज्ञेय हो, उससे विपरीतरूप जाने तो ज्ञान विपरीत सिद्ध हो और यदि सर्वज्ञेयों को न जाने तो ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो।

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही वस्तु की पर्यायें हैं; इसलिए किसी समय की पर्याय आगे-पीछे होती ही नहीं। जिस समय जो पर्याय होने योग्य हो, उस समय वही होती है। छहों द्रव्यों में जो परिणाम होते हैं, वे सब अपने-अपने अवसर में स्व रूप से उत्पन्न और पूर्व रूप से विनष्ट हैं। द्रव्य में अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित होनेवाले समस्त परिणामों में पीछे-पीछे के अवसरों में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और पहले-पहले के परिणाम प्रगट नहीं होते। इस प्रकार प्रत्येक जीव और अजीव द्रव्य क्रमबद्ध परिणमित होते हैं, कोई द्रव्य आगे-पीछे की पर्यायों में परिणमित नहीं होता। द्रव्य की पर्यायों के क्रम को बदलने के लिए तीर्थंकर, इन्द्र, नरेन्द्र इत्यादि कोई समर्थ नहीं हैं। वस्तु में तीनकाल की पर्यायें जिसप्रकार क्रमबद्ध हैं, उसी प्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान में वे ज्ञात होती हैं।

यदि वस्तु की त्रिकाल की पर्यायें क्रमबद्ध नियमानुसार न होती हों तो सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान भी अनिश्चित सिद्ध हो; और अनिश्चित ज्ञान हो, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। इस प्रकार वस्तु में क्रमबद्धपर्यायों को स्वीकार किये बिना सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी।

श्री समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की प्रथम (३०८ से ३११) गाथाएँ इस सम्बन्ध में बहुत उपयोगी हैं। उनकी टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि–

'जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः। एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीवः एव न जीवः।'

अर्थः– 'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है। इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है।'

इस प्रकार वस्तुस्वरूप क्रमबद्धपर्यायवाला ही है, और ज्ञनियों के सम्यग्ज्ञान में वैसा ही ज्ञात होता है। वस्तु की क्रमबद्धपर्यायें माने बिना सम्यग्ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार हैंः– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान – इन पाँचों ज्ञानों में स्वयं अपने योग्य, वस्तु की भूत-भविष्य को क्रमबद्धपर्यायों को जानने का सामर्थ्य है। यदि उस ज्ञान में ज्ञात हुए अनुसार ही वस्तु में क्रमबद्धपर्यायें न हों, और उनमें किंचित् भी फेरफार हो तो वह ज्ञान मिथ्या ही सिद्ध हो। पाँच ज्ञान के विषय में शास्त्रों में जो कथन आता है –वह यहाँ दिया जा रहा है :–

मति -श्रुतज्ञान

श्री तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के ३६वें सूत्र में मनुष्यों के दो प्रकार बतलाये हैं; उनमें से आर्य मनुष्यों में जिन जीवों को विशेष शक्ति प्राप्त हो, उन्हें ऋद्धिप्राप्त आर्य कहा जाता है। उनकी बुद्धि-ऋद्धि के स्वरूप का वर्णन करते हुए एक 'अष्टांगनिमित्तता बुद्धि' कही गई है। उसका स्वरूप इस प्रकार है –

''अन्तरिक्ष, भोम, अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, और स्वप्न ऐसे आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान है। उसकी व्याख्या निम्नप्रकार है'':–

१– सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र के उदय-अस्तादिक देखकर अतीत-अनागत फल का जानना, वह अन्तरिक्ष निमित्तज्ञान है।

२– पृथ्वी की कठोरता, कोमलता, चिकनाई या रूखापन देखकर, विचार करके अथवा तो पूर्वादि दिशा में सूत्र पड़ता देखकर हानिवृद्धि, जय-पराजय इत्यादि का प्रगट जानना, वह भोम निमित्तज्ञान है।

३– अंग-उपांगादि के दर्शन-स्पर्शनादि से त्रिकाल भावी सुख-दुःखादि का जानना, वह अंग निमित्तज्ञान है।

४– अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभ-अशुभ को सुनकर इष्टानिष्ट फल का जानना, वह स्वर निमित्तज्ञान है।

५– मस्तक, मुख, ग्रीवा, इत्यादि स्थानों में तिल, मसा आदि लक्षण देखकर त्रिकाल सम्बन्धी हित-अहित का जानना, सो व्यंजन निमित्तज्ञान है।

६– शरीर पर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश, चक्र आदि चिह्न देखकर पुरुष के त्रिकाल सम्बन्धी स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक विशेषों का जानना, वह लक्षण निमित्तज्ञान है।

७– वस्त्र, छत्र, अशन जयनादि से, देव-मनुष्य-राक्षसादि से तथा शस्त्र-कंटकादि से छेदे जायें, उसे देखकर त्रिकाल सम्बन्धी लाभ-अलाभ सुख-दुःख को जानना, वह छिन्न निमित्तज्ञान है।

८– वता-पित्तष्लेष्म रहित पुरुष को, मुख में पिछली रात्रि में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्र का प्रवेशादि होना –ऐसा स्वप्न शुभस्वप्न है। घी, तेल से अपनी देह लिप्त हो और गधा-ऊँट आदि पर चढ़कर दक्षिण दिशा में गमनादि करे, ऐसा स्वप्न वह अशुभस्वप्न है; उसके दर्शन से आगामी काल में जीवन-मरण, सुख-दुःखादि का ज्ञान होना वह स्वप्न निमित्तज्ञान है।

इन आठ प्रकार के निमित्त-ज्ञान का जो ज्ञाता हो, उसे अष्टांग-निमित्तबुद्धि-ऋद्धि है।

अब यदि द्रव्य की पर्यायें क्रमबद्ध न होती हों और आगे– पीछे होती हैं, तो उपरोक्त कथित अष्टांगनिमित्ततावुद्धि किसी जीव के हो ही नहीं सकती; और अष्टांग-निमित्ततावुद्धि, वह मति-श्रुतज्ञान है, इससे मति-श्रुतज्ञान का ही अभाव सिद्ध होगा।

अवधिज्ञान

उत्कृष्ट अवधिज्ञान असंख्यात लोकप्रमाण से अतीत और अनागत काल को जानता है। रूपी पुद्गल और उन पुद्गलों के सम्बन्धवाले संसारी जीवों के विकारी भावों को अवधिज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। अब यदि रूपी पुद्गल और जीव के विकारी भाव क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित न होते हों और आगे-पीछे चाहे जैसे परिणमित होते हों तो अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों के और जीव के विकारी भावों की असंख्यात लोकप्रमाण अतीत और अनागतकाल की पर्यायों को वर्तमान में किस प्रकार जान सके? अवधिज्ञान ने जिसप्रकार जाना, उसी प्रकार यदि पदार्थों की क्रमबद्ध पर्याय न हो तो अवधिज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। स्वभावपर्याय हो या विभावपर्याय हो, वे सब क्रमबद्ध ही होती हैं।

मनःपर्ययज्ञान

अपने तथा पर के जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ इत्यादि को विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है; और व्यक्तमन या अव्यक्तमन से चिन्तवन किये हुए, चिन्तवन न किये गये अथवा

तो आगे चलकर जिसका चिन्तवन करेगा– ऐसे सर्वप्रकार के पदार्थों को भी वह ज्ञान जानता है। काल की अपेक्षा से वह ज्ञान जघन्यरूप से सात-आठ भव आगे-पीछे के जानता है और उत्कृष्टरूप से असंख्यात भव आगे-पीछे के जानता है। भविष्य के जीवन-मरण, लाभ-अभाव इत्यादि यदि निश्चित न हों, तो ज्ञान उन्हें कैसे जानेगा?

केवलज्ञान

केवलज्ञान ने सर्व द्रव्य-गुण और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को अक्रम से एक काल में जानता है। यह ज्ञन सहजरूप से (इच्छा बिना और उपयोग को परसन्मुख किये बिना) सर्व ज्ञेयों को जानता है। केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है और उसमें सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञात होते हैं। यदि लोकालोक से भी अनन्तगुने ज्ञेय हों तो उन्हें भी जान ले – ऐसा दिव्य सामर्थ्य केवलज्ञान में है।

इन पाँचों प्रकार के सम्यग्ज्ञान का स्वरूप ऐसा बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य के अनादि-अनन्तकाल की समस्त पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं, वे आगे-पीछे नहीं होतीं और उनके क्रम को बदलने के लिए कोई समर्थ नहीं है। वास्तव में इसमें आत्मा के ज्ञायकभाव का निर्णय आता है, और ज्ञायकभाव का निर्णय ही सम्यक् पुरुषार्थ है। जीव के यथार्थ पुरुषार्थ के बिना यह निर्णय नहीं हो सकता। जीव जब ऐसा निर्णय करता है, तब उसे परपदार्थों में कुछ भी फेरफार करने की मिथ्याबुद्धि नहीं रहती। विश्व के समस्त पदार्थ अपने स्वभावानुसार क्रमबद्ध ही होते हैं, इससे मैं उनमें कुछ भी फेरफार कर हो नहीं सकता–ऐसा अपने ज्ञान में निर्णय होने से, 'पर पदार्थों का क्या होता है?' उस ओर लक्ष्य करना नहीं रहता, इससे उसका पुरुषार्थ अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ही उन्मुख होता है और अपने में भी, पर्यायबुद्धि दूर होकर द्रव्यदृष्टि होती है। ''यदि सब नियमबद्ध-क्रमसर होत है और जीव उसमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता, तो जीव का पुरुषार्थ नहीं रहता''–ऐसा माननेवाले को, क्रमबद्धपर्यायों को जाननेवाला जो अपना ज्ञायकस्वभाव है– उसकी प्रतीति नहीं है। समस्त पदार्थों में क्रमबद्ध परिणमन होता है, उसका मैं ज्ञाता हूँ–ऐसा जो ज्ञायकभाव है, वही परम पुरुषार्थ है। पर में कुछ भी फेरफार कर सके–ऐसा आत्मा का पुरुषार्थ है ही नहीं।

जिन्हें पर के ऊपर आधिपत्य रखना है, 'पर का मैं करता हूँ, मैं करता हूँ'–ऐसे मिथ्या अहंकार से दुनियाँ के पदार्थों के साथ लिपटकर गले मिलना है, समाज की व्यवस्था करने के अभिमान में जिनकी बुद्धि रुक गई है और पर के साथ के सम्बन्ध से छूटकर जिन्हें स्वभावोन्मुख नहीं होना है–ऐसे जीवों को उपरोक्त वस्तुस्वभाव की बात सुनकर ऐसा हो जाता है कि–'अरे

रे! क्या आत्मा किसी का कुछ भी नहीं कर सकता? आत्मा पर में कुछ फेरफार नहीं कर सकता? तो आत्मा पुरुषार्थरहित निरुद्यमी और निष्क्रिय हो जायेगा।' ऐसे जीवों को परपदार्थ का अहंकार करना ही पुरुषार्थ भाषित होता है, परन्तु उस अहंकार से रहित वीतरागी ज्ञायकभाव प्रगट करना ही परम पुरुषार्थ है–ऐसा वे नहीं जानते। जीव का पुरुषार्थ अपने में ही होता है, और पर में वह कुछ भी नहीं कर सकता;–ऐसा जिन्हें भान नहीं है, उन जीवों की दृष्टि पर की ओर से, निमित्त की ओर से, शरीर की क्रिया की ओर से, कर्म के उदय की ओर से, व्यवहार की ओर से, पुण्य की ओर से, या पर्याय की ओर से कभी नहीं हटती और ज्ञानस्वभावी के स्वद्रव्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती; इस प्रकार उन्हें वस्तु-स्वरूप का अथवा आत्मा का निर्णय नहीं है। जिन्हें वस्तु की क्रमबद्धपर्यायों की प्रतीति नहीं है, उन्हें सर्वज्ञ की या आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में ही सच्चा ज्ञान और सच्चा पुरुषार्थ है; इस प्रतीति के बिना पर का अहंकार दूर नहीं होता और ज्ञान-स्वभाव में स्थिर नहीं होता, इससे अज्ञान दूर नहीं होता।

वस्तु में स्वभाव से ही क्रमबद्ध परिणमन होता है, – उसकी जिन्हें प्रतीति नहीं है, वे ऐसी भ्रमणा का सेवन करते हैं कि –''जैसा निमित्त आये, वैसा कार्य होता है, जैसा कर्म का उदय हो, वैसे भाव जीव को करना ही पड़ते है। बाह्य की समाज व्यवस्था ठीक नहीं है, इसलिए जीव दुःखी हैं, समाज के कार्य और उसकी व्यवस्था में फेरफार करना – वह अपने पुरुषार्थ के हाथ की बात है।'' यदि वस्तु की क्रमबद्धपर्यायों की यथार्थ प्रतीति हो तो यह सभी मिथ्या भ्रमणाएँ दूर हो जायें।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने में अपने ज्ञान में पुरुषार्थ रुकता है, इससे ज्ञान और पुरुषार्थ कार्य करते हैं, तथापि उस ज्ञान और पुरुषार्थ को जो अस्वीकार करते हैं, वे इस यथार्थ वस्तुनियम को नहीं समझे हैं। अपनी वर्तमान पर्याय में जिस ज्ञान और पुरुषार्थ का कार्य हो रहा है, उसे जो न माने, उसके यथार्थ वस्तुस्वभाव के ज्ञान का पुरुषार्थ कहाँ से होगा? और वह वस्तुस्वभाव को किस प्रकार समझेगा? कभी नहीं समझ सकता।

इस प्रकार – (१) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को, (२) सर्वज्ञता को और (३) क्रमबद्ध पर्याय को, एक-दूसरे के साथ अविनाभावीपना है, इन तीनों के ज्ञान के साथ 'जैनधर्म' का ज्ञान भी आ ही जाता है – वह अब कहा जाता है।

(४) जैनधर्म

'जैन' अर्थात् जीतनेवाला; 'धर्म' आत्मा की शुद्धपर्याय है। आत्मा में स्वाश्रय से वह पर्याय प्रगट होती है। शुद्धपर्याय प्रगट होने से अशुद्धपर्याय का (विकार का) अभाव होता है। इस

प्रकार आत्मा अपने शुद्धभाव के द्वारा विकार को जीत लेता है, इससे उस जीतनेवाली शुद्ध पर्याय को 'जैनधर्म' कहा जाता है। इस प्रकार 'जैनधर्म' भाववाचक शब्द है, वह कोई सम्प्रदाय, संघ या समाज-सूचक नहीं है। जो आत्मा अपने में शुद्धपर्याय प्रगट करके विकार को जीत लेता है, वह स्वयं 'जैन-धर्मी' है।

(१) जो जीव वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानते हैं, उन्हें (२) अपना आत्मा सर्व ज्ञायकस्वभावी है– ऐसी निर्णय होता है, तथा (३) अपने स्वभाव की ओर के ज्ञान और पुरुषार्थसहित क्रमबद्ध–पर्याय का निर्णय होता है और (४) उन्हें अपने में शुद्धपर्यायरूप जैन-धर्म प्रगट होता है। जगत् के सभी पदार्थों पर से और अपनी क्षणिक पर्यायों पर से दृष्टि हटकर, अपने त्रिकाल ध्रुव चैतन्य निजानन्द स्वभाव का आश्रय करके उसमें पर्याय अभेद हुई–वही जैनधर्म है। ऐसा शुद्ध पर्यायरूप सत्यधर्म (जैनधर्म) एक ही प्रकार का है; उसमें दूसरे प्रकार या भेद हो ही नहीं सकते। पर्याय की हीनाधिकता हो, तथापि धर्म तो त्रिकाल एक ही प्रकार का है। फिर भी जैनधर्म के नाम से जो भेद चल रहे हैं, वह वास्तव में जैनधर्म नहीं है, परन्तु अज्ञान के घोर बादलों का प्रताप है। ऐसा होने पर भी, ऐसे इस काल में भी मुमुक्षुओं का महत् भाग्य है कि परम कृपालु सद्गुरुदेवश्री के परम सत्य धर्मोपदेश का अपूर्व लाभ निरन्तर मिल रहा है और इस परम सत्य धर्म को समझने की रुचिवाले बिरले जिज्ञासु जीवों की वृद्धि भी दिन प्रतिदिन हो रही है।

(५) अनेकान्दवाद

उपरोक्त चारों बोलों में अनेकान्तवाद भी स्वयंमेव आ जाता है। आत्मा अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है– ऐसे निश्चित करके पर की ओर की रुचि और उन्मुखता को हटाकर, स्वभाव को रुचि और उस ओर उन्मुखता करने का नाम वास्तव में अनेकान्त है। निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर निश्चय की ओर ढ़लने से (झुकने से) ही अनेकान्त होता है। 'आत्मा निश्चय से पर का कर्ता नहीं है और व्यवहार से पर का कर्ता है, निश्चय से आत्मा शुद्ध रागरहित है और व्यवहार से रागयुक्त अशुद्ध है; निश्चयसे (द्रव्यार्थिकनय से) आत्मा नित्य है और व्यवहार से (पर्यायार्थिकनय से) आत्मा अनित्य है'–इस प्रकार दोनों नयों को जानकर, यदि निश्चयनय के विषयभूत परमार्थस्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो अनेकान्त नहीं होता। पर्याय का आश्रय छोड़कर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य का आश्रय करने में ही द्रव्य-पर्याय की अभेदता है, वही अनेकान्त (प्रमाण) है; और इस प्रकार अपने अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनेकान्त प्रगट किए बिना–(१) 'वस्तु के स्वरूप का, (२) आत्मा के सर्वज्ञ स्वभाव का, (३) क्रमबद्धपर्याय का

अथवा (४) जैनधर्म का यथार्थ निर्णय नहीं होता।'

इस समय अनेकान्त के नाम से मुख्यतया विद्वानों और उपदेशकों में भारी गड़बड़ चल रही है। अनेकान्त तो वस्तु के स्वरूप का निश्चय करनेवाला है, उसके बदले जिसे जो अच्छा लगता है, उसी प्रकार अनेकान्त और धर्म के नाम पर विपरीत कथन करते रहते हैं; इसलिए मुमुक्षु जीवों को सत्समागम से सभी पक्षों क बराबर विचार और परीक्षा करके, सत्य-असत्य का यथार्थ निर्णय करना चाहिए। इस लेख में बतलाये हुए–(१) वस्तुस्वरूप (२) आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव (३) क्रमबद्धपर्याय (४) जैनधर्म और (५) अनेकान्तवाद। इन पाँचों आवश्यक विषयों का अवश्य निर्णय करना चाहिए, क्योंकि इसके निर्णय के बिना कभी आत्मकल्याण नहीं होता।

इस कलिकाल में धर्म के नाम पर, वेष के नाम पर, देश की सेवा के नाम पर, त्याग के नाम पर–इत्यादि अनेक प्रकार से मिथ्या मान्यताओं की पुष्टि हो रही है – यह प्रगट ही है। आत्मार्थी जीव उन पाखण्डों से बचें, धर्म के नाम पर चलनेवाले पाखण्ड बन्द हों, और जगत् के पदार्थों का या आत्मा के धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है? उसे लोग जान लें और वे धर्म के स्वरूप को प्राप्त करें – यही 'आत्मधर्म' पत्र का हेतु है; इससे यथार्थ वस्तु स्वरूप बतलानेवाले लेख ही उसमें दिये जाते हैं। उसमें किसी भी व्यक्ति की निन्दा या अंगत टीका बिलकुल नहीं की जाती। मात्र सत्यस्वरूप क्या है, और असत्य क्या है? उसका विवेचन कारणों सहित युक्ति और आगमादि के आधार से दिया जाता है।

आत्मधर्म कोई लौकिक पत्र नहीं है; यह धर्म के नाम से चलनेवाले दूसरे पत्रों की अपेक्षा बिलकुल भिन्न जाति का है। इसमें जो कुछ भी दिया जाता है, वह सत्तत्त्व के प्रतीकरूप होता है। इस पत्र में जो कुछ प्रकाशित होता है, वह यद्यपि पू० गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के मुख से जो व्याख्यान प्रतिदिन होते हैं, उनका अंशमात्र ही है; तथापि उतने में 'गागर में सागर' की भाँति महान तत्त्व भरा होता है। इसलिए अन्य पत्रों की भाँति इस पत्र को नहीं पढ़ना चाहिए; इसके प्रत्येक वाक्य के भाव को समझकर पढ़ने का खास आग्रह है।

अपने को सुधारक माननेवाले कितने ही भाई ऐसा मानते हैं कि हम देश-सेवा कर रहे हैं; और वे देश-सेवा को ही धर्म मानकर धर्म के नाम की ओर घृणाभाव रखते हैं। वे भी इस पत्र को कुछ समय ध्यानपूर्वक और तुलनाशक्ति से पढ़कर अभ्यास करें तो उनकी धर्म के ओर की घृणा दूर होकर परम सत्यधर्म की रुचि हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए उन भाईयों से इस पत्र का अभ्यास करने के लिए नम्र निवेदन है।

कोई भी जीव चाहे जिसके लिए चाहे जैसा अभिप्राय रखने में स्वतन्त्र है। कितने ही नास्तिक जैसे लोग सत् धर्म को हंबग [Humbug] मानते हैं, उन्हें भी आत्मधर्म में आने-वाले वस्तु-स्वरूप का अभ्यास करने की खास सूचना है। वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान बिना कभी भी कोई जीव सुखी नहीं होता। जैनधर्म कोई बाड़ा या कल्पित मत नहीं है, परन्तु वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा वह बतलाता है; इससे जैनधर्म वस्तु का स्वभाव है। वस्तुस्वरूप के अभ्यास के बिना कोई सुखी होना चाहता हो तो वह अशक्य है।

वर्तमान शिक्षा कितने ही युवकों के दिमाग में ऐसी धुन पैदा करती है कि – 'हम बड़े बुद्धिमाान हैं; और जिन्होंने हमारे जैसी शिक्षा नहीं ली है, वे मूर्ख हैं'– ऐसा वे मानते हैं। और कहते हैं कि धर्म का अभ्यास तो निवृत्त हुए– वृद्ध लोगों के लिए है, अपना कर्तव्य तो है, जगत् में आगे बढ़कर धन प्राप्त करना, और वे काम करना जिनसे देश-जाति की उन्नति हो। ऐसा मानकर उस सम्बन्धी बातें और चर्चाएँ करते रहते हैं; उन्हें ऐसा लगता है कि धर्म तो एक व्यर्थ की वस्तु है, उसके बिना ही सुखी जा सकता है। उनकी यह मान्यता और विचार कितने अहंकार पूर्ण और मिथ्या हैं– वह सब इस पत्र के पढ़ने से मालूम हो सकता है। धर्म का अभ्यास मात्र निवृत्त या वृद्ध पुरुषों का कार्य नहीं है, लेकिन धर्म तो प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। जो जीव सुखी होना चाहते हों, उन सबको–चाहे वह वृद्ध हो या बालक हो, पुरुष हो या स्त्री हो, पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़ हो, निर्धन हो या धनवान हो–प्रत्येक का यही कर्तव्य है–ऐसा यह पत्र सचोट रीति से सिद्ध करता है और साथ ही साथ यह भी यथार्थतया समझाता है कि धर्म आत्मा की वस्तु है, इससे उसका प्रारम्भ भी आत्मा में से ही होता है। किन्हीं बाह्यक्रियाओं द्वारा उसका प्रारम्भ नहीं होता। इसलिए सब युवक भी इस पत्र को पढ़ें, विचार करें और अपनी तुलनाशक्ति द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय करें, तो उन्हें लाभ हो और जीव में शेष रह जानेवाला सबसे महान कर्तव्य उनकी समझ में आ जाये और धर्म के नाम से स्थूल क्रिया के आग्रह में फँसे हुए तथा जड़ की क्रिया में आत्मा का धर्म माननेवाले जीवों को धर्म की क्रिया का सच्चा स्वरूप विशिष्टरूप से यह पत्र समझाता है।

यद्यपि धर्म के नाम से आजकल बहुत मिथ्यावाद चल रहे हैं और यह आर्यदेश, बाह्यवेश देखकर जितना ठगा जाता है, उतना-अन्यत्र कहीं नहीं ठगाता। तथापि ऐसा मान लेना कि 'जगत में से सत्यधर्म का सर्वथा लोप हो गया है और सभी जगह मिथ्यावाद ही चल रहा है'– यह भी महान भूल है। इस काल में भी सत्यधर्म का सर्वथा लोप नहीं हुआ है, इसलिए धैर्यपूर्वक सत्यासत्य की परीक्षा करना सीखना चाहिए। इसलिए सभी लोग एक वर्ष तक इस 'आत्मधर्म' पत्र का अभ्यास नियमित करें और सत्य-असत्य की परीक्षा करें – ऐसी नम्र सूचना है।,

अभी तक अनेक जिज्ञासु जीवों ने इस पत्र से लाभ दिया है और इससे सत् धर्म का अच्छा प्रचार हुआ है, तथापि इस पत्र का जितना विशाल प्रचार और प्रसार होना चाहिए, उतना अभी नहीं हुआ है, उसके लिए पत्र की ग्राहक संख्या में वृद्धि होने की आवश्यक्ता है। आत्मधर्म के प्रत्येक ग्राहक, पाठक और धर्मप्रेमी भाई-बहिनों को उसके लिए प्रयास करना चाहिए। प्रत्येक ग्राहक और पाठकों का कर्तव्य है कि उन्हें इस पत्र के प्रचार के लिए हो सके उतना प्रयत्न करना चाहिए और अपने सम्बन्धियों को इस पत्र के स्वाध्याय के लिए आग्रह करके उन्हें सत्यधर्म के प्रति प्रेरणा देना चाहिए।

आत्मधर्म न पढ़नेवालों के सम्बन्ध में कहकर अब, आत्मधर्म के जिज्ञासु पाठकों से एक एक आवश्यक बात कहना है कि–जैनदर्शन ऐसा गम्भीर है कि ज्ञानी पुरुषों के सीधे ससंर्ग के बिना कोई जीव उसके रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकता, इससे शास्त्रों में देशनालब्धि का वर्णन आता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी के शब्दों में कहें तो–'पावे नहि गुरुगम बिना, अेही अनादि स्थित'– अनादि से ऐसी ही वस्तुस्थिति है कि गुरुगम अर्थात् देशनालब्धि के बिना कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता, और यह देशनालब्धि मात्र शास्त्रादि के पढ़ने से या अज्ञानी के उपदेश से कोई जीव प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ज्ञानी पुरुष के उपदेश का श्रवण करे, तभी देशनालब्धि प्राप्त होती है। इसलिए धर्म के अभिलाषी जीवों को एकबार तो अवश्य ही सत्समागम करके सद्गुरुगम से देशनालब्धि प्राप्त करना चाहिए। अपने आप शास्त्रस्वाध्याय से जो कार्य वर्षों तक न हो, वह सत्पुरुष के प्रत्यक्ष समागम से अल्पकाल में हो जायेगा। इसलिए आत्मधर्म के पढ़ने मात्र से सन्तोष न मानकर विशेष स्पष्ट समझने के लिए हमारा आग्रह है। ज्ञानी पुरुष के श्रीमुख से आध्यात्मिक उपदेश का साक्षात् श्रवण करना ही आत्मार्थियों को कल्याण का मुख्य कारण है। एक बार तो सत् की रुचिपूर्वक चैतन्यमूर्ति ज्ञानी पुरुष के पास से अवश्य श्रवण करना चाहिए। ऐसा करने से ही आत्मा में सत् का परिणमन होता है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में–'द्रव्यलिंगी मुनि की सम्यग्ज्ञान के लिए होनेवाली प्रवृत्ति में अयथार्थता' बतलाते हुए कहते हैं कि – ''.... कोई जीव इस शास्त्र का भी अभ्यास करता है, परन्तु जहाँ जैसा लिखा है, वैसा स्वयं निर्णय करके अपने का अपनेरूप, पर का पररूप और आस्रवादि का आस्रवादिरूप से श्रद्धा नहीं करता। कदाचित् मुख से ऐसा भी यथावत् निरूपण करता है कि जिसे सुनकर अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाये।'' [इसके अतिरिक्त लाटीसंहिता में भी पृ० २१६-१७ में इसी अर्थ का कथन है।]

परन्तु उपरोक्त प्रसंग में जो जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है, उस जीव ने पूर्व में किसी ज्ञानी के पास से देशनालब्धि अवश्य ही प्राप्त की होती है। जो जीव सम्यग्दृष्टि होता है, वह पाँचलब्धिपूर्वक ही होता है; उसमें तीसरी देशनालब्धि है। देशनालब्धि ज्ञानी के उपदेश से होती है, अज्ञानी के उपदेश से कदापि नहीं होती। तथापि अनेक जीव आज ऐसा कहते हैं कि अज्ञानी के उपदेश से भी देशनालब्धि हो जाती है। वैसा कहनेवालों ने धर्म के सच्चे निमित्त को भी नहीं जाना है।

जिसने आत्मज्ञानी गुरु के पास से पहले वस्तु का यथार्थ स्वरूप सुना हो और उस समय उसे सम्यग्दर्शन न हुआ हो, परन्तु उस देशना के संस्कार रह गये हों– ऐसा कोई जीव, द्रव्यलिंगी का उपदेश सुनकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वहाँ वास्तव में उस जीव को वर्तमान द्रव्यलिंगी के पास से देशनालब्धि प्राप्त नहीं हुई है किन्तु पूर्व में ज्ञानी के पास से प्राप्त हुई है। जिन जीवों को पूर्व में आत्मज्ञानी के पास से देशनालब्धि प्राप्त न हो और उसके संस्कार न हों, वैसे जीव कभी भी द्रव्यलिंगी के उपदेश से सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी, जो अज्ञानी के उपदेश से भी देशनालब्धि और सम्यग्दर्शन होना मानते हैं, वे धर्म के सत्य निमित्त का निषेध करनेवाले हैं। धर्म में सतपुरुष का उपदेश ही निमित्तरूप होता है– ऐसा जो व्यवहार है, उसका भी ज्ञान उन्हें विपरीत है। इसलिए मुमुक्षुओं को धर्म में ज्ञानी पुरुषों का ही उपदेश निमित्तरूप होता है –ऐसा बराबर समझकर सत्समागम से स्वभाव को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह आत्मधर्म मासिकपत्र जिस तरह हो सके, अधिक विकसित हो और उसके ग्राहकों की संख्या में वृद्धि हो – ऐसे हेतु को लक्ष्य में लेकर इस वर्ष से श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट ने आत्मधर्म का आर्थिक भार अपने ऊपर ले लिया है।

आत्मधर्म के सभी धर्म-प्रेमी पाठकों से साग्रह निवेदन है कि – इसे अपना ही जानकर इसका अधिकाधिक प्रचार करें। इस समय आत्मधर्म के करीब ११०० ग्राहक हैं; और इस वर्ष २००० ग्राहक हो जायेंगे– ऐसी हमें आशा है।

अन्त में, आत्मधर्म में प्रगट होनेवाले अध्यात्म-स्त्रोत जिनके पावन ज्ञान-समुद्र में से निरन्तर बहते हैं– ऐसे परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री के चरणाविंद में नमस्कार करके उनकी कल्याणकारिणी वाणी जयवन्त प्रवर्तमान रहे –ऐसी भावना के साथ इस लेख को समाप्त करता हूँ।

– सम्पादक

आत्मा को भगवान माने, वह भगवान होता है।

आत्मा त्रिकाल पूर्णस्वरूप है, उस त्रिकाल स्वरूप में राग नहीं है, इससे आत्मा को भगवान का आश्रय नहीं है। आत्मा के स्वभाव को राग की भी शरण नहीं है, तब फिर भगवान तो राग के निमित्तरूप हैं, उनकी शरण कहाँ से होगी? जो जीव अपने से भिन्न भगवान की शरण मानता है, वह जीव रंक है – पराश्रित है। जिसने भगवान की शरण मानी है, उसने भगवान की ओर का राग करने योग्य माना है, परन्तु रागरहित चैतन्यस्वभाव को नहीं माना है – इससे वह जीव अधर्मी है। ''दीन भयो प्रभुपद जपे रे, मुक्ति कहाँ से होय?'' मैं विकारी हूँ, रागी हूँ, भगवान की भक्ति से मेरा उद्धार हो जायेगा – इस प्रकार रंक होकर जो जीव, भगवान की प्रार्थना करता है, उस जीव की मुक्ति कहाँ से हो? मैं रागी हूँ, अपूर्ण हूँ – ऐसा मानकर प्रभुपद की याचना करे तो प्रभुपद कहाँ से मिलेगा? जो जीव अपने को भगवानस्वरूप माने, वह जीव मुक्त होता है। भगवान ने शुभराग को धर्म नहीं कहा है, तथा जो जीव भगवान की भक्ति के शुभराग से धर्म मानता है, वह वास्तव में भगवान का भक्त नहीं किन्तु विरोधी है। पर्याय में क्षणिक राग होने पर भी जो उसकी पकड़ छोड़कर अपने स्वरूप को पापरहित मानता है, वह महान सम्राट है; वह किसी पर का आश्रय नहीं मानता किन्तु अपने ही स्वभाव का आश्रय करके मुक्ति प्राप्त करता है। जो जीव रागरहित स्वभाव को नहीं मानता और क्षणिक राग को ही पकड़ता है, वह जीव रंक है, वह पराश्रय मानकर संसार में भ्रमण करता है।

प्रश्न :– ज्ञानी जीव भी भगवान की भक्ति करते समय ऐसा कहते हैं कि 'हे नाथ! भव-भव में आपकी शरण मिलती रहे!' यदि भगवान की शरण न हो तो ज्ञानी ऐसा क्यों बोलते हैं?

उत्तर :– 'भव-भव में भगवान की शरण मिले! – यह मात्र निमित्त की भाषा है। इस भाषा का कर्ता ज्ञानी नहीं है। इस भाषा के समय ज्ञानी के अन्तर में ऐसा अभिप्राय होती है कि'–' रागरहित चिदानन्द मेरा स्वरूप है।' ऐसी श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी अभी पर्याय में राग है। जहाँ तक राग हो, वहाँ तक हमें अशुभराग तो नहीं ही हो, किन्तु वीतरागता के निमित्त के प्रति लक्ष्य हो और उसी का बहुमान हो। शुभराग टूटकर अशुभराग नहीं हो। अब शुभराग अधिक समय तक नहीं टिक सकता, वह अल्पकाल में ही बदलकर या तो वीतराग भाव होता है या अशुभभाव होता है। 'वीतराग की ही शरण हो'– इसमें ज्ञानी की ऐसी भावना है कि – यह शुभ टूटकर अशुभ न हो परन्तु शुभ टूटकर वीतरागता हो जाये। वीतराग के बहुमान का राग हुआ, उस राग के समय

वीतराग की ओर लक्ष्य होता है, लेकिन कहीं वीतराग-भगवान मुक्ति नहीं देते; मैं अपनी ही शक्ति से राग तोड़कर भगवान होनेवाला हूँ। यदि आत्मा में भगवान होने की शक्ति न हो तो भगवान उसे कुछ भी कर देने में समर्थ नहीं है। और यदि आत्मा में ही भगवान होने की योग्यता है, तो उसे भगवान का का आश्रय नहीं है। मैं स्वतन्त्र भगवान हूँ – ऐसे स्वभाव के भान बिना स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती और बंधन दूर नहीं होता। वीतराग भगवान की प्रार्थना के शुभराग द्वारा तीनकाल-तीनलोक में धर्म नहीं होता। जिसे अपने स्वतःशुद्ध स्वभाव की खबर नहीं है, वह जीव अपने को देव-गुरु-शास्त्र के आश्रित मानता है। ऐसी मान्यतावाले को आचार्यदेव, जीव नहीं कहते, वह तो जड़ जैसा-मूढ़ है; उसे अपने चैतन्यतत्त्व की खबर नहीं है –ऐसे अज्ञानी को आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई ! तेरा आत्मा अनन्त-गुणों का पिण्ड, परमपारिणामिकभावस्वरूप है, उसकी तू पहचान कर ! शरीर-मन-वाणी का अथवा पुण्य-पाप का आधार न रख ! पर्याय का भी आधार छोड़कर त्रिकाली स्वभाव का आधार ले ! पुण्य-पाप रहित आत्मस्वरूप को माने बिना पुण्य-पाप दूर नहीं होंगे !

जैसे, शरीर में फोड़ा हुआ हो, उसे यदि रोगरूप माने तो उसका ऑपरेशन करवा देता है। उसी प्रकार जो जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जाने और यह भी माने कि हिंसा-दयादि के भाव मुझसे भिन्न हैं, तो वह जीव विकारभावों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त करता है। परन्तु जो जीव अपने निरुपाधिक शुद्धस्वरूप को न जाने, वह जीव, शुभाशुभ परिणाम को नहीं छोड़ता और उसकी मुक्ति नहीं होती। (नियमसार-प्रवचन गाथा ३९)

धर्म

[वीछिया ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन जन्मकल्याणक प्रसंग पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचनसार गाथा 159-160 पर प्रवचन]

(१) धर्म की व्याख्या

धर्म का क्या अर्थ है? धर्मी जीव किसे कहना चाहिए? लोग कहते हैं कि हमें धर्म करना है। तो धर्म कहाँ से होता है? वह बात यह कही जाती है। धर्म शरीर से नहीं होता, वाणी से नहीं होता और रुपये-पैसे से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि वे सब तो आत्मा से भिन्न अचेतन हैं, उनमें आत्मा का धर्म नहीं है। तथा हिंसा-चोरी इत्यादि के पाप-भाव अथवा दया-पूजादि के पुण्य-भावों से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि वे विकारीभाव हैं। धर्म करनेवाला आत्मा है और आत्मा की ही दशा में धर्म होता है। वह धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, परन्तु आत्मा के ही आश्रय से प्रगट होता है। आत्मा की शुद्धदशा ही धर्म है, और उस धर्म का कर्ता आत्मा स्वयं ही है। धर्म करनेवाले आत्मा से ही धर्म होता है, परन्तु पैसे से, शरीर से, प्रतिमा से, या देव-गुरु-शास्त्र से धर्म नहीं होता और न उस ओर के शुभराग से भी धर्म होता है। धर्म तो आत्मा की निर्मल वीतरागी शुद्धपर्याय है, वह पर्याय, पर्यायी ऐसे आत्मा में से प्रगट होती है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानादि निर्मलगुणों की खान है। श्रवण-मनन द्वारा उसकी पहचान करने पर आत्मा में से जो निर्मल अंश प्रगट हो, वह अंशी का अंश-धर्म है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप है, वह अंशी है, और उसके आश्रय से जो निर्मल अंश प्रगट होता है, वह अंश है। उस एक अंश में सम्पूर्ण आत्मा का समावेश नहीं हो जाता।

(२) धर्म की क्रिया

अपने आत्मा का स्वरूप समझे बिना जगत के जीव बाह्यक्रिया में जो हाँ... हो और प्रतिस्पर्धा (प्रतियोगिता) कर रहे हैं, उसमें धर्म नहीं है। बाह्य-जड़ की क्रिया से तो आत्मा को पुण्य-पाप भी नहीं होते। यदि राग लोभादि कषायों को मन्द करे तो पुण्य होता है, और तीव्रकषाय हो तो पाप होता है; बाह्यक्रिया तो आत्मा करता ही नहीं, वह तो जड़ के कारण स्वयं ही होती है। जड़ की क्रिया भिन्न है और राग-द्वेष की विकारी क्रिया भिन्न है तथा त्रिकाली शुद्ध-आत्मा उन दोनों से भिन्न हैं। उसकी पहचान से जो रागरहित शुद्ध अंश प्रगट होता है, वह धर्म है।

आत्मा को महत्ता समझे बिना देव-गुरु-शास्त्र की महत्ता करे तो उससे मुक्ति नहीं हो जाती। जो आत्मा की महिमा को भूलकर पर की महिमा में रुकता है, उसे धर्म नहीं होता।

(३) भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य छठवीं-सातवीं भूमिका में आत्मा की चारित्रदशा में झूल रहे हैं, क्षण में विकल्प तोड़कर स्वरूप के अनुभव में स्थित हो जाते हैं और सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का उपभोग करते हैं। दूसरे ही क्षण फिर से छठवें गुणस्थान में आने पर शुभ विकल्प उठते हैं। ऐसी दशा में–''जगत के जीव धर्म प्राप्त करें''– ऐसा शुभ विकल्प उन्हें उठा, वहाँ बाह्य में जगत के भाग्योदय से इन समयसार-प्रवचनसारादि ग्रन्थों की रचना हो गई है। उनमें आत्मा का स्वरूप क्या है, वह कहते हैं।

(४) शुद्धभाव तथा अशुद्धभाव का कारण

आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, और जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वह अशुद्धता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा की अवस्था में जो शुभाशुभ वृत्तियाँ प्रगट होती हैं, वे परद्रव्य के अनुकरण से प्रगट होती हैं, यदि आत्मस्वभाव का अनुकरण करे तो अशुद्धता नहीं होती। अशुद्धता का कारण परद्रव्य के अनुसरण से होनेवाली परिणति ही है और शुद्धता का कारण स्वद्रव्य के अनुसरण से होनेवाली परिणति है। दया, दान, पूजा, भक्ति, त्याग आदि जितने व्यवहार धर्मक्रिया के परिणाम हैं, वे सब परद्रव्यानुसारी अशुद्धभाव हैं; उनके द्वारा धर्म नहीं होता। इसलिए अन्तरदृष्टि द्वारा आत्मस्वभाव का निरीक्षण करने को भगवान, सम्यग्दर्शनरूपी धर्म कहते हैं; वह सम्यग्दर्शन, वीतरागचारित्र का मूलकारण है और वीतरागचारित्र, मोक्ष का कारण है।

परद्रव्य के लक्ष्य से अशुद्ध उपयोग होता है और उस अशुद्ध उपयोग के फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है, किन्तु उसके द्वारा स्वभाव की एकता नहीं होती; और शुद्ध उपयोग में परद्रव्य का लक्ष्य नहीं होता तथा उस शुद्ध उपयोग के द्वारा परद्रव्य का संयोग नहीं होता, क्योंकि वह तो आत्मा का स्वभाव है। जिसमें से अनन्त सिद्धपर्याय प्रगट हो –ऐसा मैं चैतन्य का भण्डार हूँ, मेरी चैतन्य-खान में से शुभ-अशुभभाव प्रगट नहीं होते –ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव, परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर शुद्धोपयोग का अभ्यास करता है।

(अपूर्ण)

धर्मी जीव किसे कहना?

(१) जड़ पदार्थों का काम मैं कर सकता हूँ–ऐसा जो मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(२) शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ–ऐसा जो माने, वह जीव धर्मी नहीं है।

(३) जड़-कर्मों का उदय मुझे विकार कराता है–ऐसा जो मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(४) आत्मा की दशा में दया, व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि जो पुण्यभाव होते हैं, वह मेरा स्वरूप है–ऐसा जो मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(५) आत्मा में जो उपशमादि सम्यग्दर्शन या केवलज्ञानादि अवस्थाएँ हैं, वे एक समयपर्यन्त की हैं। जो जीव उनके जितना हो आत्मा को माने, वह धर्मी नहीं है।

(६) जड़ से भिन्न, विकार से भिन्न और एक समय पर्यन्त की अवस्था की अपेक्षा से रहित जो सहज परमपारिणामिक-चैतन्यतत्त्व है, उसकी जो श्रद्धा करे, वह जीव धर्मी है, वह जीव अत्यन्त निकट भव्य है।

जिसे धर्म करना हो, उसे यह जानना चाहिए कि आत्मा क्या वस्तु है। शुद्ध जीवतत्त्व को उपादेय करने से शुद्धभाव प्रगट होता है, वही धर्म है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि–जो अत्यन्त निकट भव्य जीव है, जिसे बन्धन से मुक्त होना है और आत्मस्वभाव को प्राप्ति करना है–उसे निज कारणपरमात्मारूप शुद्ध जीवतत्त्व ही आदरणीय है।

[नियमसार प्रवचन गाथा - ३८]

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र